

भिक्षा व्यवसाय देश और समाज पर कलंक



-श्रीराम शर्मा आचार्य

भिक्षा-व्यवसाय देश और समाज पर कलंक

मनुष्य का प्रधान लक्षण है-स्वाभिमान । बल, धन, विद्या, सत्ता आदि सम्पदाओं का अहंकार करना बात दूसरी है, घमण्ड की निन्दा की गई है और उसे पतनकारी दुष्प्रवृत्ति बताया गया है, स्वाभिमान इससे सर्वथा भिन्न है । आत्म-गौरव एवं आत्म-सम्मान आत्मा की भूख है । आत्मा महान् है, उसकी महत्ता एवं श्रेष्ठता का वारापार नहीं, इसलिए उसे अपने गौरव के अनुरूप परिस्थितियों में ही रहना चाहिए । तिरस्कार एवं अपमान की स्थिति उसके लिए न तो बांछनीय ही हो सकती है और न उपयुक्त ही । तिरस्कृत रहते हुए भी यों जिन्दगी को जिया जा सकता है । अन्न मिलता रहे तो सौंस चलती रहेगी, पर इससे आत्मिक महानता जीवित नहीं रह सकती, उसके लिए तो स्वाभिमान एवं आत्म-गौरव की रक्षा करने वाली स्थिति ही चाहिए ।

आत्म गौरव का हनन-

आत्म-गौरव को सबसे अधिक ठेस पहुँचाने वाली और आत्मा को तत्काल नीचा दिखाने वाली वस्तु है-भिक्षा । भिखारी तिनके से भी हल्का होता है, उनका न कोई सम्मान रहता है और न मूल्य । हर व्यक्ति उसे ओछा, गया-गुजरा, दीन-दरिद्र एवं अपाहिज, असमर्थ समझता है और उसके प्रति तिरस्कार एवं घृणा के भाव रखता है । ऐसा सम्मान रहित व्यक्ति अपने आपकी दृष्टि में भी छोटा हो जाता है । हीनता एवं दीनता उसकी नस-नस में भर जाती है । इन परिस्थितियों में पड़ा हुआ व्यक्ति जीवित ही मृतक है ।

भिक्षा माँगने का अधिकार केवल दो प्रकार के व्यक्तियों को है, एक उनको जो अपाहिज, असमर्थ, अन्धे, कोढ़ी अशक्त हैं । हाथ-पैर इस लायक नहीं कि अपना पेट भरने लायक भी कमा सकें, ऐसे व्यक्ति को यदि उनके स्वजन सम्बन्धी जीवित रखने लायक सुविधा नहीं देते तो जीवन धारण करने की विवशता में उन्हें भिक्षा माँगने का अधिकार है । यह आपत्ति-धर्म है । अपवाद है । जो मनुष्य तो है पर जिसे मनुष्य के

उपयुक्त शरीर नहीं मिला, ऐसी दशा में जीवित कैसे रहा जाय ? आपत्ति—धर्म के रूप में भिक्षा उनके लिए एक आश्रय हो सकती है । अग्निकाण्ड में जिनका सब कुछ स्वाहा हो गया, बाढ़ में सब कुछ बह गया या ऐसी ही किसी आकस्मिक विपत्ति में कुछ भी शेष न रहा, कर्ज मिलने की सम्भावना न रही कोई स्वजन—सम्बन्धी ऐसा नहीं जो सामयिक सहायता कर सके ऐसी दशा में तत्काल जीवन—धारण करने और आघात सह सकने योग्य प्राथमिक स्थिति प्राप्त करने के लिए दूसरों से मुफ्त सहायता भी माँगी जा सकती है । यद्यपि ऐसी स्थिति में भी उचित यही है कि मन में यह भाव रखा जाय कि स्थिति अनुकूल होते ही उस सामाजिक ऋण को किसी न किसी रूप से समाज को फिर वापिस कर देंगे । हाँ, जो अपाहिज, असमर्थ एवं स्वजन—सम्बन्धियों के निराश्रित हैं वे बदला चुकाने में विवश होने के कारण सर्वथा मुफ्त भिक्षा भी प्राप्त कर सकते हैं ।

दूसरे उन लोगों को भिक्षा माँगने का अधिकार है जो अपने समाज के उत्थान व उत्कर्ष के लिए—दूसरों की सहायता एवं उन्नति के लिए सार्वजनिक कार्य का आयोजन करते हैं । सामूहिक सेवा कार्य मिल—जुलकर श्रम एवं धन से ही सम्भव होते हैं । एक व्यक्ति ऐसे कार्यों को करे, तो उससे जनता में सेवा एवं सहयोग की भावनाएँ विकसित नहीं हो पाती । इसलिए साधन एकत्रित करने के लिए ही नहीं, जनता की सद्भावनाओं को जगाने के लिए भी इस प्रकार धन संचय करना होता है । यह भिक्षा लोक—संग्रह के लिए है । इसलिए इसे प्रमाणित तन्त्र के माध्यम से एकत्रित किया जा सकता है, उससे किसी प्रकार की गड़बड़ी, सन्देह और अविश्वास की गुञ्जायश न रहे । दान देने वाला यह जान सके कि जो धन दिया था, उसका उचित ही उपयोग हुआ । इस प्रयोजन के लिए सार्वजनिक संगठन और उनका आर्थिक नियन्त्रण और निरीक्षण रहना आवश्यक है ।

उज्ज्वल व्यक्तित्व आदर्श चरित्र—

प्राचीन काल में यह प्रयोजन साधु, ब्राह्मण पूरा करते थे । वे स्वयं एक संस्था होते थे । उनका व्यक्तित्व उतना उज्ज्वल, तपा हुआ और निस्पृह होता था कि किसी आर्थिक गड़बड़ी या स्वार्थ—साधना की उनके

बारे में कोई व्यक्ति कल्पना तक न करता था, जिन्होंने अपना आहार-विहार अत्यन्त मितव्ययितापूर्ण रखा है, जिन्होंने अपरिग्रह का व्रत लिया है, संयम को जिन्होंने अपना साधन या माध्यम माना है, ऐसे ऋषिकल्प किसी का धन लेकर उसका करते भी क्या ? इसलिए प्राचीन काल में सार्वजनिक सेवा संगठनों की आवश्यकता नहीं समझी जाती थी । साधु-ब्राह्मणों का उज्ज्वल व्यक्तित्व उस प्रयोजन की सहज पूर्ति करता था । जनता उन्हें समय-समय पर मुक्त-हस्त से प्रचुर दान-दक्षिणा दिया करती थी और वे उसमें से पेट भरने और तन ढकने जितना अपने लिए रखकर शेष को लोक-कल्याण के कार्यों में खर्च कर देते थे । उन दिनों जनता को यह पूछने की भी आवश्यकता नहीं थी कि यह धन किस कार्य में खर्च किया जायगा ? यह कार्य साधु-ब्राह्मणों का ही था कि वे देखें कि इस समय कहाँ, किस प्रकार की, किसी ढंग से कौन सत्प्रवृत्तियाँ चलाई या बढ़ाई जानी हैं । जब जहाँ जैसी आवश्यकता प्रतीत हुई, वहाँ वैसी व्यवस्था वे लोग बना लेते थे । जनता दान देकर निश्चिन्त हो जाती थी, उसे पूर्ण विश्वास रहता था कि जिन्हें दिया गया है वे उसे अपनी व्यक्तिगत पूँजी बनाकर बैठने वाले नहीं, वरन् इसकी एक-एक पाई लोक-मंगल के लिए धर्म, संस्कृति एवं समाज के कल्याण में खर्च होगी ।

यह परम्परा अभी तक चलती चली आ रही है । रेलवे स्टेशनों पर जब जनता महात्मा गाँधी के दर्शनों को पहुँचती थी, तब रुपया, पैसा, जेवर आदि भी स्त्री-पुरुष उनकी झोली में फेंकते थे । यह काम गाँधी जी पर छोड़ देते थे कि देश-कल्याण के किस कार्य में वे किस तरह व्यय करेंगे । परिस्थितियाँ बदल गई पर अभी भी यह प्रथा प्रचलित है कि दान-दक्षिणा के रूप में साधु-ब्राह्मणों को जनता प्रचुर धन दान करती रहती है और उनसे यह प्रश्न नहीं करती कि आप उसे किस कार्य में, किस प्रकार खर्च करेंगे । यह भारतीय जनता की अतिशय उदारता ही कहनी चाहिए कि दान के धन को लोकहित के कार्यों में खर्च किए जाने पर, उसे व्यक्तिगत पूँजी की तरह काम में लाये जाने पर भी यह प्रश्न नहीं किया जाता कि आप को जो दान दिया गया है, उसको आपने किस सत्कर्म में व्यय किया । व्यक्तिगत पूँजी बन जाने से या उसके लोक सेवा न करने

वाले व्यक्ति के निजी खर्च में काम आ जाने से तो कोई पुण्य नहीं हुआ । पुण्य तो दान से होता है और वही दान कहलाता है जो जन-कल्याण की सत्प्रवृत्तियों के अभिवर्धन के लिए किया जाय ।

दान के दो प्रयोजन—

तात्पर्य यह है कि भिक्षा माँगने या दान देने के दो ही प्रयोजन हो सकते हैं—एक व्यक्ति की नितान्त असमर्थता और लाचारी दूसरे सार्वजनिक सत्प्रवृत्तियों के अभिवर्धन के लिए एकत्रित किया हुआ जन-सहयोग । यह सहयोग व्यक्ति के माध्यम से एकत्रित हो या संस्था के माध्यम से, यह परिस्थितियों के ऊपर निर्भर रहता है । जब व्यक्तियों के अविश्वस्त होने की आशंका हो तो फिर संगठनात्मक माध्यम ही अपना अच्छा है । यद्यपि उनमें भी कम गड़बड़ी नहीं होती ।

भारतीय जनता की धर्मप्रियता और उदारता विख्यात है । वह एक प्रथा परम्परा ही बन गई है । कोई धार्मिक प्रयोजन बिना दान-पुण्य के सम्भव नहीं होता । तीर्थ-यात्रा, कथा-वार्ता, पूजा-अर्चना, व्रत, अनुष्ठान हर कार्य में तो दान-पुण्य अनिवार्य शर्त के रूप में जुड़ा हुआ है । हर शुभ कार्य पर ब्राह्मण भोजन करने और दक्षिणा देने का प्रचलन है । इस पुण्य परम्परा का प्रयोजन यही था कि लोक-मंगल एवं मानवीय चरित्र में, सत्प्रवृत्तियों के अभिवर्धन के लिए जितना अधिक सहयोग सम्भव हो सके बार-बार करना चाहिए । उस समय हर साधु ब्राह्मण की स्थिति विशुद्ध लोक-सेवी एवं धर्म-प्रचारक की थी, इसलिए उन्हें अन्न-वस्त्र आदि देना भी किसी व्यक्ति को भिक्षा देना नहीं वरन् समाज कल्याण की व्यवस्था बनाना ही था । सार्वजनिक कार्यकर्ता का भरण-पोषण भी तो करना ही होता है अन्यथा वह जीवित कैसे रहेगा ? मोटर चलानी हो तो पेट्रोल तो चाहिए ही, इसलिए ब्राह्मण भोजन या उन्हें अन्न, वस्त्र, गौ आदि का दान सर्वथा उचित ही था । इस औचित्य को ध्यान में रखकर ही ब्राह्मण इस दान को ग्रहण एवं स्वीकार भी करते थे । जो सेवा-संचालन नहीं करते थे वे स्पष्ट रूप से दान लेने से इन्कार कर देते थे । अभी भी ऐसे लाखों ब्राह्मण हैं जो किसी का दान किसी भी प्रकार स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं हो सकते, जो व्यक्तिगत कार्यों

में संलग्न हैं, जिसकी अपनी निज की जीविका भी है, ऐसे व्यक्ति को दान लेने का अधिकार है भी नहीं, जो लोके सेवा में निरन्तर रत न होते हुए भी दान लेता है, वह तो एक प्रकार से भिक्षुक हो गया । वैसी भिक्षा केवल अपाहिजों के लिए ही सभ्य कही जा सकती है, अन्य व्यक्तियों के लिए तो यह एक पाप पूर्ण अनाधिकार चेष्टा ही है । प्राचीनकाल के साधु-ब्राह्मणों का व्यक्तित्व इतना महान् था कि वे भिक्षा जीवी होकर तिरस्कृत जीवन व्यतीत करना किसी भी मूल्य पर स्वीकार न करते थे । यह उन्होंने तभी स्वीकार किया था, जब उन्हें पूर्ण विश्वास था कि उनके समय का एक-एक क्षण और भावना का एक-एक कण लोक-मंगल के लिए जनता-जनार्दन के हित साधन के लिए समर्पित है, तो संसार की उपयोगी अमानत इस देह को जीवित रखने के लिए अन्न-वस्त्र जैसी स्वल्प सहायता स्वीकार कर लेने में कोई हर्ज नहीं है । इस उच्चतम आदर्श के कारण ही वे संसार को वह अनुदान दे सके जिसका लाभ अनन्तकाल तक लोगों को मिलता रहेगा ।

उपर्युक्त दो परिस्थितियों को छोड़कर अन्यत्र जहाँ कहीं भी भिक्षा आचरण हो रहा हो समझना चाहिए यहाँ अनीति बरती जा रही है और मानवता को तिरस्कृत एवं लांछित किया जा रहा है ।

विकृतियाँ सुधारी जायँ—

हमारे देश की संस्कृति बहुत प्राचीन है, प्राचीन चीजों में जीर्णता आ जाती है, जीर्ण वस्तुओं में टूट-फूट होने लगती है । पुरानी इमारतों से लोन झड़ने लगती है और दीवारें बिखरने लगती हैं । मरम्मत न हो तो उसकी टूट-फूट का खतरा पैदा हो जाता है । बूढ़ा शरीर कई तरह की जीर्णता जन्य विकृतियों से ग्रस्त हो जाता है, लापरवाही बरतने पर तो उसके लिए और भी संकट पैदा हो जाता है । इसलिए बीच-बीच में टूट-फूट की साज-सँभाल करने की जरूरत पड़ती रहती है । अपनी संस्कृति का स्वरूप परिष्कृत करने और विकृतियों का संशोधन करने के लिए भगवान् समय-समय पर अवतार लेते रहते हैं, सुधारक उत्पन्न होते रहते हैं और मनीषी तत्त्वदर्शियों के प्रयत्न चलते हैं, जब इस संदर्भ में शिथिलता होती है, तब विकृतियाँ बढ़ने लगती हैं । इन दिनों ऐसी ही

परिस्थितियाँ उत्पन्न हो गई हैं, जिनमें प्राचीन श्रेष्ठ परम्पराएँ भी विकृत होकर ऐसी बन गई हैं जिन्हें अनुपयुक्त एवं हानिकारक कहा जा सके। ऐसे अवसरों पर सुधार के प्रयत्नों को अधिक तत्परता एवं मुस्तैदी के साथ गतिशील करना ही होता है।

भिक्षावृत्ति को ही लीजिए जहाँ इस उदार अभिव्यक्ति द्वारा असमर्थों का पोषण और सत्प्रयत्नों का अभिवर्धन होता था और लोक-मंगल की परम्परा सुरक्षित रहती थी, वहाँ अब इस आदर्श के विकृत हो जाने पर राष्ट्र का भयानक रूप से चरित्र पतन हो रहा है। लोगों ने भिक्षा को व्यवसाय बना लिया है, जिस प्रकार दूसरे उद्योग-धन्धे लोग निस्संकोच भाव से करते हैं उसी तरह भीख माँगना भी बहुत से लोगों का एक परम्परागत व्यवसाय बन गया है, उसे वे अपना अधिकार मानते हैं और कहते हैं कि ईश्वर ने हमें बनाया ही इसलिए है, हमारा व्यवसाय ही यह नियत किया है। बुराई को जब तक मनुष्य बुराई मानता है तब तक उसके सुधार की गुञ्जायश रहती है, पर जब उसे एक स्वाभाविक बात ही नहीं, अच्छाई भी मान लेता है तब स्थिति अधिक गम्भीर बन जाती है और सुधार अधिक कठिन हो जाता है।

समाज का एक कलंक—भिक्षा वृत्ति

इस समय अपने देश में एक ऐसा व्यापार भी चल रहा है, जिसमें न परिश्रम करना पड़ता है और न पूँजी लगानी पड़ती है, सदैव लाभ ही लाभ प्राप्त होता है। आयकर की चिन्ता से मुक्त बिना परिश्रम और पूँजी लगाये अधिक लाभ दिलाने वाले इस व्यापार का नाम है—भीख माँगना। यदि किसी से कहा जाये कि भिक्षावृत्ति एक लाभदायक व्यवसाय है तो वह इस आश्चर्यजनक सत्य को एकदम मानने के लिए तैयार नहीं होगा, पर सत्य तो सत्य ही होता है।

क्या कभी आपने यह भी सोचा है कि जो भिखारी दिन भर अपने को दीन-हीन स्थिति में अभिव्यक्त कर दाताओं को आत्म-सन्तोष का अनुभव कराता है, वह वास्तव में कुशल व्यापारी है, जो अपने व्यवसाय को चलाते रहने के लिए अनेक हथकण्डों से काम लेता है।

एक सर्वेक्षण के अनुसार लाखों स्त्री-पुरुष भिक्षावृत्ति द्वारा

अपनी जीविका चला रहे हैं । इनमें लगभग ५८ प्रतिशत कोढ़ी तथा ४० प्रतिशत अपंग और वृद्ध हैं । ६० वर्ष से अधिक आयु के २५ प्रतिशत हैं । अकेले कानपुर नगर के भिखारियों की संख्या ४ हजार है, जो लगभग ३० लाख रुपया प्रतिवर्ष कमा रहे हैं । वहाँ भिक्षावृत्ति उन्मूलन समिति के सर्वेक्षण के तथ्यों से जो जानकारी मिली है, वह आँखें खोल देने वाली है । वहाँ के १३१ भिखारी ऐसे हैं जिनका विश्वास है कि भिक्षावृत्ति कभी मिटाई नहीं जा सकती । ७० प्रतिशत ऐसे भिखारी हैं जो सरकार से किसी प्रकार की सहायता नहीं चाहते और ४१ प्रतिशत ऐसे हैं जो इस पेशे को छोड़ना नहीं चाहते ।

भिखारियों द्वारा भीख माँगने के जो तरीके अपनाये जा रहे हैं वह समाज के लिए बड़े घातक हैं । कोई भी सार्वजनिक स्थान ऐसा न मिलेगा जहाँ भिखारियों के दर्शन न होते हों । भिखारी हाथ में टीन का डिब्बा लिए गन्दे-फटे कपड़ों से अपने अंगों को ढके, आते-जाते व्यक्ति के पीछे मनुहार करते देखे जा सकते हैं । राहगीर उनसे अपना पीछा छुड़ाने के लिए कुछ न कुछ देते हैं । प्रत्येक भिखारी अच्छी तरह जानता है कि वह लोगों में सहानुभूति तथा दया की भावना जितनी अधिक उभार सकेगा उतनी सफलता उसे अपने व्यवसाय में मिलेगी । दूसरों के कष्टों को देखकर स्वाभाविक रूप से हमारे मन में दया और करुणा उत्पन्न होती है और यह सवेग हमारी जेब से पैसे निकलवा देता है ।

भिखारियों का यह निजी अनुभव है कि उन व्यक्तियों को अधिक भिक्षा मिलती है, जो लँगड़े-लूले, अन्धे, कोढ़ी या विकृत अंग वाले होते हैं । यही कारण है कि वे अपनी दयनीय स्थिति तथा शरीर के घावों का प्रदर्शन कर भीख माँगते हैं । कभी-कभी मनुष्य की लाशों को साधन बनाकर पैसा इकट्ठा किया जाता है । शव को सड़क पर रखकर, कपड़ा उढ़ाकर कई भिखारी या एक ही परिवार के सब लोग रोने-चिल्लाने लगते हैं । कफन या दाह-संस्कार के लिए राह चलते लोगों से पैसा माँगते हैं । कभी-कभी तो कोई भिखारी ही कपड़ा ओढ़कर लेट जाता है और कभी किसी के शव को लाकर पैसा वसूल करते हैं । भोले-भाले व्यक्तियों को धोखा देना निन्दनीय कृत्य ही है ।

कितने ही निष्ठा भिखारी स्वयं भीख न माँग कर दूसरों से यह व्यवसाय कराते हैं। ऐसे व्यक्ति छोटे-छोटे बच्चों को बाजारों से उठाकर उनके अंग विकृत कर देते हैं और फिर भिक्षावृत्ति का प्रशिक्षण देकर अपनी रोजी चलाते हैं। पिछले दिनों कानपुर स्टेशन पर एक ऐसे साधु को पकड़ा गया था जो दो छोटे बच्चों को बोरी में डालकर ले जा रहा था। ऐसे अपराध आये दिन हमारे देश में होते रहते हैं, जो समाज की दृष्टि में नहीं आते। इस तरह हम देख सकते हैं कि यह दीन-दुखी बनने वाले भिखारी मानवता का कितना बड़ा अहित कर उसे कलंकित करते हैं।

आर्थिक विषमता, गरीबी, बेकारी, बढ़ती हुई जनसंख्या शारीरिक और मानसिक दुर्बलताएँ, आलस्य, स्वयं परिश्रम न करके दूसरे से टुकड़ों पर निर्भर रहने की वृत्ति और जनता की अन्य श्रद्धा जैसे अनेक कारणों को भिक्षावृत्ति के लिए उत्तरदायी ठहराया जा सकता है।

निर्धन और असहाय व्यक्ति विवश होकर भीख माँगता है और जब अभ्यस्त हो जाता है तो फिर इस धन्ये को छोड़ना नहीं चाहता। सैकड़ों वर्षों से देशवासी साधु और भिखारियों को दान देकर पुण्य प्राप्त करते रहे हैं। देशवासियों की अन्य-श्रद्धा का अनुचित लाभ उठाकर ईश्वर के नाम पर भिखारी पैसा और खाद्य सामग्री जुटा लेते हैं फिर व्याज का धन्या शुरू कर देते हैं।

शारीरिक और मानसिक दृष्टि से दुर्बल और अपंग व्यक्तियों को यदि थोड़ी देर के लिए छोड़ दिया जाये तो भी ऐसे व्यक्तियों की संख्या भी लाखों में है जो आत्म-सम्मान त्यागकर आलस्य और काहिली के कारण कोई परिश्रम का कार्य करना ही नहीं चाहते। यदि इन्हें किसी प्रकार का काम दिया भी जाये तो वे बहाना बनाकर उसे छोड़ देते हैं। यह भिखारी हमारे देश के गौरव को आघात पहुँचाने वाले हैं। ऐसी स्थिति में समाज-सेवी, राजनीतिज्ञ, अर्थशास्त्री तथा बुद्धिजीवी वर्ग के व्यक्तियों का कर्तव्य है कि शताब्दियों से फलती-फूलती इस भिक्षावृत्ति को दूर करने का प्रयास किया जाये इसके लिए निम्नलिखित प्रयत्न किए जा सकते हैं -

(१) सरकार भिक्षावृत्ति के विरुद्ध ऐसा कड़ा कानून बनाये कि सार्वजनिक स्थानों पर भीख मँगना दण्डनीय अपराध घोषित किया जाये । आज प्लेटफार्म पर तथा रेलगाड़ी में इतने अधिक भिखारी मौजूद रहते हैं कि टिकिट लेकर चलने वाले व्यक्तियों को असुविधा होती है । कानून के द्वारा व्यवस्था ऐसी होनी चाहिए कि इस कानून के चंगुल से कोई व्यक्ति न बचे ।

(२) अण्ग, कोढ़ी तथा विकृत अंग वाले भिखारियों के लिए आश्रमों की स्थापना होनी चाहिए । ऐसे भिखारियों की संख्या अधिक नहीं है, प्रयत्न करने पर इन्हें आश्रमों में रखा जा सकता है ।

(३) किसी भिखारी को तभी रोका जा सकता है जब उसकी जीविका का पूरा-पूरा प्रबन्ध किया जाये । भिखारियों की मानसिक और शारीरिक क्षमता के अनुसार कृषि तथा विविध उद्योगों में उन्हें लगाया जा सकता है । यदि उनमें से कुछ व्यक्ति काम छोड़कर भागना चाहते हैं तो उनसे काम लेना सरकार कर्तव्य है । यह कार्य सरकार को इसलिए कठिन लगता है कि किसी भिखारी को भीख मँगने से तब रोका जा सकता है जब उसकी जीविका का प्रबन्ध हो जाये ।

(४) पूर्व परम्परा से चली आ रही धारणा—भिक्षा देना पुण्य का कार्य है—जब तक नहीं बदलती इस समस्या का समाधान कठिन ही है । भिखारियों ने अपने व्यवसाय के लिए इसी आमक धारणा को आधार बनाया है । किसी स्वस्थ व्यक्ति को भीख देना भिक्षावृत्ति को प्रोत्साहित करना है । इससे भिखारी का तो अहित करते ही हैं देश की बहुत बड़ी हानि भी करते हैं । क्योंकि वह व्यक्ति सदैव के लिए राष्ट्र का भार बन जाता है । यदि हम चाहते हैं कि स्वस्थ भिखारियों को रोजी कमाने के लिए विवश करें तो सीधा उपाय यही है कि उन्हें भीख देने से स्पष्ट मना कर दिया जाये और उसका कारण भी बता दिया जाये ।

(५) महात्मा गाँधी तो यह कहा करते थे कि जो व्यक्ति शारीरिक और मानसिक दृष्टि से स्वस्थ होने पर भी दूसरे के श्रम पर आश्रित है तो उन्हें जीवित रहने का भी कोई अधिकार नहीं है इसीलिए उन्होंने एक बार निशुल्क भोजन गृहों को बन्द करने की सलाह दी थी ।

समाज को कलंकित करने वाली भिक्षावृत्ति से यदि मुक्ति पाना चाहते हैं, तो अपनी दानशीलता पर अंकुश लगाना होगा क्योंकि कुपात्र को दिया गया दान व्यक्ति और समाज दोनों के लिए हानिकारक है । यदि हम दान देना ही चाहते हैं तो अपने समय, श्रम और धन को मानव सेवा के लिए समर्पित कर युग निर्माण की भूमिका अदा कर सकते हैं ।

५६ लाख की विशाल जन-शक्ति-

भारत सरकार की पिछली जनगणना के अनुसार इस देश में भिक्षा व्यवसायी लोगों की संख्या ५६ लाख थी । यह उद्योग अधिक लाभदायक बन जाने से अब उसकी संख्या बढ़ गई होगी । जिन्हें यदाकदा दान दक्षिणा मिल जाती है । इसमें उन लोगों की शुमार नहीं है । इतनी संख्या तो उन लोगों की है जिन्होंने भिक्षा को अपने नियमित व्यवसाय के रूप में अपनाया हुआ है । साधु-महात्मा, पण्डा-पुरोहित, अन्धे-अपाहिज तथा और अनेक तरीकों से भिक्षा पर गुजर करने वाले लोगों की इतनी बड़ी संख्या है ।

यह संख्या आश्चर्यजनक है, एक चिन्ता का विषय भी । चीन के पास २५ लाख सेना बताई जाती है । इतनी सेना के बल पर वह अपना आतंक चारों ओर बढ़ाता, पड़ोसियों के प्रति आक्रामक बनता और अमेरिका जैसे साधन-सम्पन्न देश से टक्कर लेने की जुर्रत करता है । २५ लाख जनसंख्या बहुत बड़ी होती है । जिस सेना में इतने व्यक्ति हों तो उसका आतंक और खटका रहना स्वाभाविक ही है ।

भारत सरकार की सेना और सिविल दोनों प्रकार के कर्मचारियों को मिलाकर करीब ४० लाख होते हैं । जितने मनुष्य मिलकर भारत सरकार के शासन तंत्र को बना रहे हैं । उसकी अपेक्षा इयौढ़ी संख्या के मनुष्य भिक्षा द्वारा घूसखोरी करने में अपने दिन गुजार रहे हैं । यदि इतनी बड़ी जनसंख्या धर्म-तंत्र के सुधारने और संभालने में लग सकी होती तो उसने देश की सामाजिक नैतिक, बौद्धिक सारी समस्याओं का उत्तरदायित्व अपने कन्धे पर भली प्रकार उठा लिया होता और उसे पूरा भी कर लिया होता । तब अपने देश की जो आज दुर्दशा है, वह देखने को तो क्या सुनने को भी न मिलती । भारत सरकार की इतनी बड़ी

मशीनरी को जितने लोग संभालते हैं क्यों न उससे इयौड़ी संख्या के लोग उसकी सामाजिक एवं नैतिक स्थिति को संभालने में समर्थ हुए होते ?

भारत की जनगणना करीब ५५ करोड़ है । इनमें से शिक्षितों की संख्या लगभग ३० प्रतिशत है, शेष ७० प्रतिशत निरक्षर हैं । प्रगति के लिए शिक्षा की कितनी बड़ी आवश्यकता है ? उसे हर कोई जानता व मानता है । करीब ३८ करोड़ निरक्षरों को साक्षर बनाने की समस्या अत्यधिक महत्वपूर्ण है । ५६ लाख में से एक लाख असमर्थ मान लिए जायें तो ५५ लाख अवश्य ऐसे हैं, जो हाथ, पैर, बुद्धि से पूर्ण तथा सावधान समर्थ हैं । इसमें से अधिकांश पढ़े-लिखे हैं, जो बिना पढ़े हैं वे एक दो वर्ष में पढ़ सकते हैं । इस विशाल जनसंख्या को भारतीय जनता की निरक्षरता दूर करने के सेवा कार्य में लगा दिया जाय तो इनमें से हर एक के हिस्से में लगभग ७० निरक्षर आते हैं । एक वर्ष में यदि ३५ को भी काम चलाऊ शिक्षा दे सके तो दो वर्ष में सारा राष्ट्र साक्षर बन सकता है । इन लोगों को यदि सेना में भरती कर लिया जाय तो चीन की अपेक्षा ढाई गुनी अपनी फौज हो सकती है, जो संसार की कुल मिलाकर सारी सेना में अधिक बैठेगी । तब हम सारे संसार से सैनिक दृष्टि से आगे बढ़े-चढ़े होंगे और सब लोग भी मिलकर हमें परेशान करना चाहें तो उनका मुँह तोड़कर रख सकेंगे । ५५ लाख व्यक्ति कृषि उत्पादन में लगा दिये जायें और इनमें से प्रत्येक केवल मात्र एक मन भी उत्पादन कर सके तो अन्न की दृष्टि से हम स्वावलम्बी बन जायेंगे और कुछ भी न करें यह लोग अपना भार आप संभाल लें और भारतीय जनता पर उनका जो भार पड़ता है वह न पड़े तो इस बचत से सारे देश में खुशहाली की लहर फैल सकती है । एक व्यक्ति के भोजन, वस्त्र, मार्ग-व्यय तथा अन्य जरूरतों का औसतन खर्च ५० रुपये भी मान लिया जाय तो ५६ लाख का खर्च हर महीना करीब २८ करोड़, वर्ष में $२८ \times १२ = ३३६$ करोड़ वार्षिक होता है । इनती बड़ी राशि राष्ट्र निर्माण की एक अभिनव योजना चला सकती है । इससे शिक्षा, समाज सुधार, स्वास्थ्य सम्वर्धन, गौरवा, सांस्कृतिक पुनरुत्थान जैसी बहुमूल्य योजनाएँ आसानी से चल सकती हैं । इतनी पूँजी हर साल नये उद्योग-धन्धों में लगाई-बढ़ाई जाती रहे तो उनमें इतने व्यक्तियों को

काम मिलेगा कि आज की बेकारों की समस्या देखते-देखते हल हो जायेगी और उनके श्रम से इतनी नई सम्पदा बढ़ेगी जिससे देश में खुशहाली की बढ़ती हुई रौनक हर जगह देखी जा सकेगी । इतने लाभ तो तब हुए जब यह ५६ लाख अपना भार आप उठाये, दूसरों की कमाई पर न जिएँ । यदि ५६ लाख स्वयं भी किसी काम में लग जायें, सेना, शिक्षा, कृषि, लोक-सेवा आदि किसी भी एक काम को पकड़ लें तो उसके फलस्वरूप उत्पन्न होने वाली समृद्धि का चमत्कार देश के हर क्षेत्र में दिखाई पड़ने लगे, इतने लोगों का मुफ्तखोर होना सचमुच हमारा एक बहुत बड़ा दुर्भाग्य है । इस दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति से भारतीय जनता की अपार आर्थिक क्षति होती है । गरीब देश को जिसमें लोगों को अपने गुजारे की समस्या हल करना ही कठिन पड़ता है, इतने मुफ्तखोरों का भार भी उठाना पड़े तो उन पर क्या बीतेगी ? उसे हम रोज ही अपनी आँखों से प्रत्यक्ष देखते हैं, आर्थिक समस्या विषम से विषमतर होती चली जाती है ।

आर्थिक व नैतिक हानि—

यह तो हुई आर्थिक हानि । इतने लोगों द्वारा भिक्षा व्यवसाय अपना लिए जाने पर देश की जो चारित्रिक हानि होती है, उसकी भयंकरता तो आर्थिक हानि से भी कहीं अधिक भयानक है । मुफ्तखोरी को कोई पसन्द नहीं करता । हट्टे-कट्टे, तन्दुरुस्त आदमी को किलासिता और आवारागर्दी के लिए कोई अपनी गाढ़ी कमाई का पैसा क्यों लुटावे ? इन आवारा लोगों के सामने यह प्रश्न उत्पन्न होता है, जिन्होंने भिक्षा व्यवसाय अपना लिया है, उन्हें गुजारा चाहिए फिर “खाली दिमाग शैतान की दुकान” वाली कहावत के अनुसार ऐसे लोग नशेबाजी आदि व्यसनों से भी ग्रसित होते हैं । उसके लिए और भी अधिक पैसा चाहिए । लोग सीधे ढंग से देते नहीं । ऐसी दशा में उन मुफ्त खोरों के पास एक ही तरकीब रह जाती है कि कोई ऐसा जाल रचें जिससे प्रभावित होकर लोग इन्हें बिना कुछ परिश्रम किए भी प्रचुर धन प्रदान करते रहें । बार-बार भिक्षा माँगने से तिरस्कार भी होता है । लोग देने में भी आना-कानी करते हैं । ऐसी दशा में सरल रीति से भीख माँगने से समस्या हल नहीं हो सकती । उसके लिए कुछ न कुछ विलक्षण और

आकर्षक तरकीब चाहिए, ताकि लोगों को देते हुए बुरा भी न लगे, तिरस्कार के स्थान पर सभ्यता भी मिले और बिना प्रत्यक्ष रूप से आगे भी देने वालों से अपने आप मिलने का ढंग बना रहे ।

आवश्यकता आविष्कार की जननी है । मस्तिष्क की विशेषता यह है कि हमें जिस दिशा में कुछ आशंका होती है, वह उसी दिशा में अनेक प्रकार की सूझ-बूझ का काम करता है और अनेकों तरकीबें समझ में आ जाती हैं । विज्ञान, कृषि, उद्योग, नीति, धर्म, सदाचार, चिकित्सा, शिल्प आदि सभी विषयों में प्रगति मनुष्य की इच्छायें और आवश्यकताओं ने ही तो की हैं । जिन्हें बिना श्रम किए, पराई कमाई पर जीवित रहने के लिए भिक्षा ही उपयोगी जैची है, उनको भी मस्तिष्क प्राप्त है । वे भी तो सूझ-बूझ से काम ले सकते हैं । आविष्कार उनका दिमाग भी तो कर सकता है, उसने किया भी है । धार्मिकता का आवरण उठाकर ऐसे अनेक प्रपञ्च रचकर खड़े कर दिये हैं जिनके आधार पर आज लाखों शिक्षित-अशिक्षितों, निठल्लों की रोटी बड़े आनन्द से चल रही है । इतना ही नहीं देवताओं की तरह पुज भी रहे हैं ।

भिक्षा जीवियों के स्तर-

निम्न स्तर के भिक्षा जीवी सीधे-साधे ढंग से रोटी, कपड़ा, पैसा आदि माँगते हैं । इनमें से जो कुछ चतुर हैं वे अपने को कुछ विपत्ति ग्रस्त बताते हैं, रास्ते में जेब कटने, चोरी हो जाने, कन्या विवाह योग्य होने, घर में बीमारी या और कोई संकट होने की बात कहते हैं और जो उनकी बात पर विश्वास कर लेते हैं उनसे अपेक्षाकृत कुछ अधिक कमाई कर लेते हैं । कई व्यक्ति वस्तुतः अन्धे, बहरे, ढूँग, लँगड़े, अपाहिज आदि नहीं होते, पर वैसा अभिनय करते हैं ताकि लोगों की करुणा जागे और भिक्षा का पात्र समझकर सहायता करें । कई स्त्रियाँ सुहागिनी होते हुए भी अपने को विधवा बता कर गोदी में छोटे बच्चे लिए फिरती हैं और उनके दूध, कपड़े आदि के लिए पैसे माँगती हैं । सीधी भीख की अपेक्षा उन्हें इस तरह कुछ अधिक भी मिल जाता है ।

अधिक चतुरों के अधिक पाखण्ड—

इससे अधिक चतुर और अधिक चालाक भिक्षुक साधु-महात्मा का वेष बनाते हैं। लाल, पीला कपड़ा, रंगकर पहनने में एक-दो पैसे खर्च होते हैं, पर प्रमाण-पत्र ऋषि-महात्मा होने का मिल जाता है। कमण्डल, चिमटा, त्रिशूल, मोटे दाने की माला, बड़ा तिलक धारण कर लिया दाढ़ी रखा ली या सिर मुड़ा लिया तब तो कहना ही क्या है, फिर तो उच्चकोटि के सिद्ध-महात्मा कहलाने में कोई कमी नहीं रह गई। सिद्धि, चमत्कार, योग, मन्त्र-तन्त्र, जादू-टोना, देवता, भूत, नक्षत्र, शाप, वरदान, स्वर्ग, नरक, मुक्ति, भविष्यवाणी जैसी आकाश-पाताल की चचयिं उनके मुख से सुनाई पड़ती रहती हैं, जिससे सर्व साधारण की दृष्टि से उन्हें असामान्य समझा जाय और लोग उनकी सहायता से कुछ दैवी कृपा प्राप्त होने की आशा लगाकर अभीष्ट भेंट-पूजा अपने आप ही प्रस्तुत करते रहें।

कोई अपने को अधिक तेजस्वी-तपस्वी सिद्ध करने के लिए ऐसे प्रदर्शन करते हैं, मानो उन्ने कुछ विलक्षणतायें एवं सिद्धियाँ प्राप्त कर ली हों, कुम्भ आदि के बड़े धार्मिक मेलों में लोहे की कीलों या काँटों पर सोते हुए जमीन में छाती तक गड़े हुए, एक पैर से खड़े हुए, चारों ओर आग जलाकर घूनी तपते हुए इन तथाकथित महात्माओं का प्रदर्शन देखा जा सकता है। इनका प्रयोजन दर्शकों को अधिक प्रभावित कर अधिक भिक्षा प्राप्त करना मात्र हो जाता है। अन्यथा मेले-ठेलों में सड़क के किनारे भीड़-भाड़ में भी भला कहीं तपस्यायें होती हैं? इसके लिए एकान्त स्थान चाहिए, जिसकी कहीं भी कमी नहीं है।

कुछ दिन से इसी तरह का एक खेल चल पड़ा है—समाधि लगाना, जमीन में गड्ढा खोद कर एक व्यक्ति उसमें भीतर बन्द हो जाता है। कई दिन बाद उसे बाहर निकाला जाता है। तब भोले भक्तों द्वारा उस पर भेंट-पूजा की वर्षा होने लगती है। इस करतब में कई व्यक्ति मिले-जुले होते हैं। कई बार तो उसे देखे हुए व्यक्ति को दूसरी जगह जमीन खोदकर सुरंग से बाहर निकाल लेते हैं और फिर नियत समय पर उसे भीतर पहुँचा देते हैं, कई बार भीतर बैठा हुआ व्यक्ति नींद की गोली

खाता रहता है, जब जागृति आई जी घबराया कि फिर एक नींद की गोली खा ली । इस प्रकार नियत समय आ पहुँचता है और सहज की सिद्ध पुरुष होने की घोषणा हो जाती है । कुछ दिन पूर्व गाजियाबाद, (उ. प्र.) में एक नव-युवक को इसी प्रकार समाधि में बन्द किया गया, बेचारा नौसिखिया था, पूरे हथकण्डे सीख नहीं पाया था, गड्ढे में घुस गया । सरकारी कड़ा निरीक्षण हो जाने से साथी उसे बाहर निकाल न सके, बेचारा उसी में मर गया । गुजरात के एक अत्यन्त विलासी व्यक्ति का एक बार गायत्री, तपोभूमि, मथुरा में आना हुआ था । उसने अपने द्वारा कई जगह समाधि लगाने के फोटो और प्रमाण पत्र दिखाए और कहा यहाँ भी उसकी समाधि का प्रदर्शन कराया जाय । जो आमदनी होगी उसमें से वह आधी हमें दे देगा । हमने तुरन्त ही उसे दुत्कार कर उल्टे पाँव भगा दिया था और कहा था कि ऐसे खेल करने से तो योग और समाधि दोनों बदनाम हो जायेंगे । समाधि शहरों में प्रदर्शन के लिए नहीं वरन् आत्म-कल्याण के लिए एकांत स्थानों में लगाई जाती है । योगी शहरों में समाधि का सरकस नहीं करते और न कमीशन पर गिरोह इकट्ठा करते हैं । आप कृपाकर यहाँ से तुरन्त ही उल्टे पाँव चले जाइये । खिसियाता हुआ वह तुरन्त बिस्तर लपेट कर अन्यत्र चला गया । इससे मिलते-जुलते अनेकों चमत्कार लोग दिखाते और अपना व्यवसाय चलाते रहते हैं ।

एक से बढ़कर एक-

एक सर्वेक्षण में भारत में अब तक ४७ व्यक्ति ऐसे हैं जो अपने को भगवान् का अवतार बताते हैं । उनकी बात पर कितने ही लोग विश्वास करते हैं और अन्ध-भक्त बने हुए हैं । उनमें कितनी ही चेलियों का सतीत्व अपहरण किया है और कितने ही चेलों का धन लूटा है । बाहर से ऐसा प्रदर्शन करते हैं, जिससे नये लोग मोहित हो जायें, भीतर से वे बिल्कुल संसारी वरन् उनसे भी गये बीते होते हैं । बड़े-बड़े मठाधीशों का यही हाल है । कितने ही धर्म-प्रवर्तक बने बैठे हैं । केवल मथुरा, वृन्दावन में ऐसे दर्जनों सम्प्रदायों का आविष्कार हुआ है । प्राचीन वेद धर्म के स्थान पर उनमें अपने-अपने नाम से अलग-अलग सम्प्रदाय चलाये ताकि उनके अनुयायी किसी और के पास न जाकर उनके ही चंगुल में फँसे

रहें । अपने को अलौकिक या ईश्वर का अवतार बताने वालों को लोगों ने कई बार कहा कि आप चीन और पाकिस्तान जैसे आक्रमणकारियों को अपने सुदर्शन चक्र से पीछे हटा दीजिए । गौओं की रक्षा की व्यवस्था बना दीजिए । इन प्रश्नों के उत्तर में वे केवल दाँत निकाल देते हैं । उनका अवतार तो केवल थोड़े से अन्ध भक्तों को लूटने खाने तक ही सीमित है । न उन बेचारों के पास कुछ है और न वे किसी का भला-बुरा कर सकते हैं ।

हमने अपने प्रारम्भिक जीवन में करामाती सिद्ध बाबाओं की बहुत खोज की है । उन दिनों हमारा अनुमान था कि जो जितना करामाती होगा उसे उतना ही बड़ा सफल आध्यात्मिक साधक माना जाना चाहिए । इस मान्यता के आधार पर हमने समस्त भारतवर्ष के सभी प्रख्यात करामाती लोगों का पता लगाया और उनके दरवाजे पर खाक छानी । जितनी अधिक सेवा उनकी सम्भव थी वह की पर बारीक दृष्टि से पता लगाने पर इतना ही विदित हुआ कि उनके पास बाजीगरी हथकण्डों के अलावा वास्तविक सिद्धि कुछ भी नहीं है । ऐसे लोगों के चमत्कारों का रहस्य उन दिनों हमने “योग के नाम पर मायाचार” पुस्तक में प्रकाशित किया था । पुस्तक छापने का उद्देश्य यह था कि ऐसे धूर्तों के चंगुल में फँसने से लोग बचें । पर हुआ उल्टा—जो रहस्य उसमें प्रकट किए गए हैं, उन्हें अपनाकर बहुत से लोग भोले लोगों को ठगने के लिए वैसा षड्यन्त्र स्वयं रचने लगे । इस प्रकार वह पुस्तक नये धूर्तों के लिए एक शिक्षण ट्रेनिंग पुस्तक बन गई । अतएव उसे छापना बन्द करना पड़ा । ऐसे कितने ही करामाती सिद्धों के सम्पर्क में रहने का अक्सर मिला है, जो ईश्वर का दर्शन करा देने तक का दावा करते थे, पर उनके पास ढोल की पोल के अतिरिक्त था कुछ भी नहीं ।

अन्धविश्वासों का प्रचार—

भूतवाद, रहस्यवाद, परोक्षवाद, चमत्कारवाद का इतना विशाल जाल आज भारत में प्रचलित है, जितना संसार के पिछड़े हुए प्रदेशों में भी नहीं पाया जाता । अफ्रीका, आस्ट्रेलिया आदि में जो जंगली जातियाँ पाई जाती हैं उनमें इस प्रकार के अन्ध विश्वास पाये जाते हैं । वे थोड़े से ही हैं । विज्ञान एवं शिक्षा का प्रकाश अभी वहाँ तक नहीं पहुँचा है, इसलिए वे प्रकृति के आश्चर्यजनक पदार्थों एवं परिवर्तनों के पीछे किन्हीं देवताओं

की कल्पना करते हैं और अज्ञात कष्टों एवं असुविधाओं का कारण उन देवताओं को मानते हैं । प्रयत्न यह करते हैं कि वे देवता अप्रसन्न न होने पावें, इसके लिए उन्हें एक ही बात सूझती है कि उन्हें कुछ अच्छा भोजन कराया जाय चूँकि उनके सामने प्रधान समस्या भोजन की रहती है । इसलिए वे सोचते हैं कि देवता की प्रसन्नता-अप्रसन्नता का आधार भी भोजन ही हो सकता है । वे देवता का अनुग्रह प्राप्त करने के लिए जानवरों की कभी-कभी मनुष्यों की बलि देते रहते हैं । यही उनका प्रधान अन्ध विश्वास है । कुछ छुटपुट सामाजिक रिवाज भी उनके ऐसे हैं, जिन्हें विचित्र एवं अनैतिक कह सकते हैं । बस इतनी-सी ही इन वन्य लोगों की मूढ़ता है जिसे हम उनका पिछड़ापन कहते और उपहास उड़ाते हैं ।

पर हमने शिक्षित होते हुए भी इतनी किस्म के अन्ध-विश्वास पाल रखे हैं जिनकी कोई सीमा नहीं । सामाजिक रीति-रिवाज में इतनी बेसिर-पैर की विसंगतियाँ उलटवासियाँ घुस पड़ी हैं कि आश्चर्य करना पड़ता है कि आखिर यह सब पाखण्ड किस प्रयोजन के लिए रचा गया है ? इस प्रकार हमारे यहाँ प्रचलित रहस्यवाद इतना दुरुह एवं विलक्षण है जिनकी बातों की तर्क से कोई संगति नहीं खाती, जिनकी वास्तविकता का कोई प्रमाण नहीं ऐसी अनर्गल बातें हमारे समाज में इतने घटाटोप के साथ मानी एवं अपनाई जाती हैं जितनी शायद किसी सचाई को भी न अपनाया जाता होगा, आखिर यह सब हुआ कैसे ? इतना अन्ध-विश्वास आखिर घुस कहाँ से पड़ा ? उसका इतना व्यापक प्रचार कैसे हो गया ? इसकी खोजबीन करने पर यही स्पष्टा होता है कि यह जंजाल खाली दिमागों की खुरापात है । उसने मकड़ी के ताने-बाने की तरह भ्रम-जंजाल रचकर खड़ा कर दिया है, जिसमें उलझे हुए लोगों का समय ही नहीं नियुक्त धन भी बर्बाद होता है । इस प्रचलन के पीछे कोई न कोई तरकीब ऐसी जरूर होती है जिनसे इन निठल्ले लोगों की आमदनी का जरिया चलता रहे । सीधी भिड्वा मँगने पर जितनी सफलता मिलती है, आमदनी होती है, उसकी अपेक्षा इन तरकीबों के सहारे उन्हें अनेक गुना सम्मान सहित आजीविका मिलने लगती है ।

देव उपासना का स्वरूप-

देवता ईश्वर की दिव्य-शक्तियों को कहते हैं । उनकी अनुकम्पा प्राप्त करने के लिए मनुष्य को अपना अन्तःकरण सद्भावना पूर्ण और आचरण सत्कर्मों से ओत-प्रोत बनाना होता है । उस साधना से मनुष्य के मुख्य गुण बढ़ते हैं । फलस्वरूप स्वभावतः उसका आत्मिक एवं भौतिक जीवन सुविकसित एवं विभूति सम्पन्न होना चाहिए । देव आराधना का इतना-सा मर्म है । देव प्रतिमाओं तथा उनके उपासना विधान के सहारे उसी प्रयोजन की सिद्धि की जाती है । मनुष्य जितना देवत्व अपने अन्दर बनाता चलता है, उसी अनुपात से उसका वैभव भी सुविकसित होता है । यह तथ्य मनोविज्ञान, नीति शास्त्र एवं समाज-विज्ञान के सर्वथा अनुरूप है । ऐसे देववाद को तर्क एवं प्रमाणों समेत सिद्ध किया जा सकता है । ऋषियों ने इसी आधार पर उन मान्यताओं को प्रचलित किया था ।

अब आजकल जो देववाद प्रचलित है, वह प्राचीन काल की ऋषि मान्यताओं से सर्वथा भिन्न है । आजकल की मान्यता के अनुसार देवता एक प्रकार के मनुष्य मात्र हैं । जिनमें लोभ, मोह, क्रोध, पक्षपात एवं स्वार्थ गिरे दर्जे के व्यक्तियों जैसा है । पूजा मिलने में देर हो जाय या कमी रहे तो झट नाराज हो जाते हैं और कल तक जिस भक्त पर कृपा करते थे, जिससे पूजा-अर्चन पाते थे, उसे बिना सूचना दिये ही बड़ी से बड़ी हानि पहुँचाने को तैयार हो जाते हैं । क्या, यही देवताओं की महानता है ? कोई भक्त पूजा-पत्री का, बलिदान आदि का प्रलोभन देता है तो बिना इस बात की जाँच किए कि जो माँगा जा रहा है, वह उचित है या अनुचित, न्याययुक्त है या अन्याय युक्त देने को तैयार हो जायें तो उन्हें देवता कैसे कहा जाय ? फिर उनमें और स्वार्थी मनुष्यों में क्या अन्तर रहा ? काली, भैरव आदि के बारे में ऐसी ही मान्यता है कि वह मद्य-मांस, बलि आदि लेकर किसी को मारने के लिए 'घात' करती है, चोरी, डकैती, जुआ आदि की सफलता में सहायता करती है । कार्य चाहे कितना ही अनीति युक्त क्यों न हो, उसे अपनी मनौती रिश्वत से काम । अधिकारी, अनधिकारी, उचित-अनुचित का, पाप-पुण्य का कोई अन्तर वह समझती नहीं । अपनी पूजा मिली कि भक्त का मन चाहा काम कर दिया ।

आज की मान्यताओं के अनुरूप लगभग सभी देवताओं का स्तर उसी प्रकार का है। उनसे बुरी से बुरी कामनायें पूर्ण करने की माँग की जाती है। पुरुषार्थ और क्षमता की बात भुलाकर मनमानी मनौती मानी जाती है, कितने ही देव मेले उसी आधार पर चलते हैं। हजारों लाखों की संख्या में लोग इसी प्रकार की कामनायें और मान्यतायें लेकर पहुँचते हैं। वे देवता जिनके अस्तित्व तक के बारे में सन्देह है भला देगे तो किसी की क्या, संयोग से तीर-तुक्का जिसका लग गया, उसका श्रेय देवता को मिल जाय यह बात दूसरी है, पर अधिकांश लोगों के हाथ समय और धन की बर्बादी के सिवाय और कुछ नहीं मिलता। हाँ, भेंट-पूजा को देवता तो लेते नहीं, उनके सहारे जो लोग अपना स्वार्थ सिद्ध कर लेते हैं, वे नफे में जस्ूर रहते हैं।

नित नये देवताओं का सृजन-

वैदिक काल में इन्द्र, विष्णु, वरुण, अग्नि, वसु, पुष्पा, मरुत, विश्वेदेवा आदि जो देवता थे, उन्हें लोग भूल गये। पौराणिक काल आया उसमें गणेश, सरस्वती, लक्ष्मी, अम्बिका, पार्वती, नवग्रह, ब्रह्मा, विष्णु, शिव, हनुमान, गंगा आदि देवता पुजे, पनपे। छिले तीन सौ वर्षों में तो इतने अधिक भूत, उपज पड़े हैं, जिनकी तुलना बरसाती मेंढकों से ही की जा सकती है। हर गाँव का एक नया नामधारी देवता, हर बिरादरी का, हर खानदान का एक देवता वह भी ऐसा जिसका नाम विचित्र, रुचि विचित्र, आहार विचित्र, पूजा विचित्र। इनको कुल देवता कुल देवी, ग्राम देवी आदि नामों से पुकारते हैं। किसी शास्त्र, इतिहास, पुराण, ग्रन्थ में इनका कोई पता नहीं चलता। लगता है कि भिक्षा जीवी गुरुजन बहुत बढ़ गये होंगे और एक देवता की पूजा में कड़ियों को हिस्सा बँटाना पड़ता होगा, तो उन्होंने इस प्रकार के नये-नये देवताओं को गढ़ना आरम्भ कर दिया होगा ताकि नये देवता की पूजा का लाभ नये पुरोहित को मिलने लगे। अब तो स्थिति यहाँ तक पहुँच गई है कि यार लोग किसी अनगढ़ पत्थर के टुकड़े पर सिन्दूर पोतकर रख दें तो बेचारी भोली महिलायें दूसरे दिन से ही उसे देवता मानकर पूजना शुरू कर देती हैं। तथ्य का कोई पता नहीं लगाता है कि जिसकी पूजा हम कर रहे हैं, वह आखिर कुछ है भी या नहीं।

अभी दो-चार वर्षों से उत्तर-प्रदेश, मध्य-प्रदेश और राजस्थान

समाज पर कलंक

(१९

के कुछ भाग में भी एक नई देवी उपज खड़ी हुई । उसका नाम है—‘सन्तोषी माता’ । शुक्रवार के दिन उसकी पूजा होती है, भुने चने और गुड़ से उसका भोग लगता है, उस दिन घर भर का कोई व्यक्ति खटाई नहीं खाता । एक बहू को वह कह भी जाती हैं, जिसे उसके ससुराल वाले सताते थे, सन्तोषी माता का परिचय हुआ थोड़ी-सी पूजा की कि देवी झट प्रसन्न हो गई, बहू की मनोकामना पूरी कर दी और जिन सास आदि ने उसे सताया था उन्हें पूरा-पूरा दण्ड दिया इस कहानी को पूजा करने वाले कहते और सुनते हैं । तीन-चार कर्षों के भीतर ही यह सन्तोषी माता जन्मी और आँधी तूफान को तरह फैली है । अब तो बम्बई, कलकत्ता, तक जा पहुँची है । भुने-चने और गुड़ जहाँ ढूँढ़े नहीं मिलते अब उसके बढ़िया पैकिंग बने हुए ऊँची से ऊँचे दुकानों पर घड़ा-घड़ बिक रहे हैं ।

देवताओं की पूजा पर हमारा विश्वास है मूर्ति पूजक भी हैं । सनातन धर्म के वातावरण में हम जन्मे और पाले-पोषे गये हैं । देव पूजा और पौरोहित्य कर्म हमारी वंश परम्परा से होता आया है । अतएव पूजा उपासना का वातावरण देखकर हमें प्रसन्नता अनुभव होना स्वाभाविक ही है । हमें तो चुभती केवल इतनी भर बात है कि बिना किसी आधार के नये देवी-देवता तक गढ़कर लोग कैसे खड़े कर देते हैं । इस आँखों देखी नई उपज को जिनका इस संस्कृति से कोई सम्बन्ध नहीं है । यह तो मनचले लोगों की मन गढ़न्त है, तो फिर उनके इस आक्षेप का क्या उत्तर दिया जायगा ? आखिर प्रामाणिकता, प्राचीनता, परम्परा आदि का कुछ तो आधार होना ही चाहिए ।

अपने नाम पर कुछ मँगने की अपेक्षा देवता की मनीती, पूजापाठ, भेंट-पूजा आदि के नाम पर मँगना अधिक सुविधाजनक है । इस सूझबूझ ने कितने देवी-देवताओं की, कितने भूत-पलीतों की सेना बनाकर खड़ी कर दी और उनकी विचित्र विधि-पूजा में कितने लोगों को उलझा दिया गया था, यह अचम्भे की बात तो है, पर उसमें असम्भव कुछ नहीं । इतने ठाली-बैठे व्यक्ति अपने गुजारे के लिए ऐसी गढ़न्त गढ़ने और उन्हें फैलाने में लगे रहे तो भारत जैसी भावुक देश की भी जनता के लिए उसे देखते-देखते अपना लेना कुछ कठिन बात नहीं है ।

चोर बनाम भिक्षुक—

यह एक सच्चाई है कि चोर की अपेक्षा भिखारी अधिक निकृष्ट हैं। चोर को साहस, पुरुषार्थ और सूझबूझ से काम लेना पड़ता है, इसलिए पाप के दण्ड का अधिकारी बनते हुए भी वह कम से कम कुछ सद्गुण का तो अभ्यस्त बना रहता है। उसे अपना स्वाभिमान तो नहीं खोना पड़ता। भिक्षुक एक प्रकार का आत्म-हत्यारा है उसे पग-पग पर आत्म-तिरस्कार का, हीनता-दीनता एवं तुच्छता का अनुभव अपने सम्बन्ध में करते रहना है। जिससे उसे लाभ लेना है, उनकी चापलूसी करनी पड़ती है। इनके असत्य एवं अनुपयुक्त कार्यों का भी समर्थन करना पड़ता है। जो बातें उनमें नहीं हैं वे दूसरों को बताने का मिथ्यावाद फैलाना पड़ता है। इसी प्रकार मूढ़ विश्वास में दूसरों को फँसाकर उनके पतन का पथ-प्रशस्त करते हुए अपना लाभ कमाना होता है। चोर इतना तो नहीं करता। वह केवल धन चुराता है जिसकी पूर्ति पीछे भी हो सकती है, पर ढोंगी भिक्षुक ने धन के साथ-साथ जिन अन्ध मान्यताओं एवं भ्रम जंजालों में फँसा दिया उनके कारण तो उस बेचारे को भविष्य में भी पग-पग पर ठोकरें खानी पड़ेंगी। यह पाप चोर ने तो नहीं किया था। उसने तो चोरी करने के साथ-साथ अपने यजमान को यह शिक्षा भी दी है कि भविष्य में वह बहुत सावधानी बरते और अपना सामान इस प्रकार न रखें जिससे किसी को चोरी करने का अवसर मिले। इस प्रकार चोर तो एक तरह का शिक्षक भी है, पर ढोंगी भिक्षुक तो आगे के लिए भी अज्ञान के अन्धकार में धकेल जाता है। चोर की आत्मा जितनी पतित होती है उससे भिक्षुक की कहीं अधिक पाई जाती है। भिक्षुक को हर घड़ी असत्य का आवरण ओढ़े रहना पड़ता है और निरन्तर असत्य का प्रचार प्रतिपादन करना पड़ता है। बाकी समय वह सीधा रास्ता अपनाये रहता है। कम से कम वह चोरी सिखाने के लिए कोई सत्संग प्रवचन का आयोजन तो नहीं करता, अपनी बात को धर्म सम्मत तो नहीं ठहराता, दूसरों से ऊँचा और अच्छा तो अपने को सिद्ध नहीं करता। ढोंगी भिक्षुक तो यह सब भी करते रहते हैं इसलिए उनका पाप भी चोर की तुलना में सहस्र गुना अधिक माना गया है। नरक की पारलौकिक दुर्गति वाली बात

यदि सत्य हो तो निश्चय ही चोरी की अपेक्षा इन ढोंगियों को सहस्र गुना अधिक दण्ड भुगतना पड़ेगा ।

भिक्षा जीवियों की विविध श्रेणियाँ—

इस समय यह भिक्षा व्यवसाय इतना अधिक बढ़ गया है कि देश भर में कहीं भी आप चले जायें आपकी उनसे भेंट हो जायगी । बड़े नगरों में तो उनकी संख्या हजारों तक पहुँच जाती है । वैसे वे इधर-उधर अपने अड्डों पर पड़े रहते हैं और नये आदमी को उनकी विशाल संख्या का अनुमान नहीं होता, पर जब सार्वजनिक दान का कोई मौका आता है तो उनका दृश्य देखने योग्य होता है । उदाहरणार्थ कितने ही धनी हिन्दू एकादशी को और मुसलमान शुक्रवार को पाई-पैसे बाँटा करते हैं । उस दिन आप किसी दानदाता के स्थान के समीप खड़े हो जायें तो कुछ घण्टों में आप हजार आठ-सौ भिखारियों को वहाँ आकर पैसा लेते देख सकते हैं । इसी प्रकार जब कोई एक व्यक्ति या किसी बाजार के कई व्यवसायी मिल कर “भिक्षुकभोज” करते हैं । तो वहाँ सहज ही में हजार-पाँच सौ व्यक्ति इकट्ठे हो जाते हैं । ऐसे अवसरों पर न जाने कैसे भोजन की खबर एक ही दिन में इतने बड़े नगर के कोने-कोने में पहुँच जाती है । ऐसा अद्भुत होता है इन भिखारियों का बेतार का यन्त्र ।

अब किसी छोटे-से गाँव में पहुँच जाइए तो वहाँ भी आपको एकाध ‘भिक्षा जीवी’ के दर्शन हो ही जायेंगे । पर वहाँ उनका रंग-रूप और ही होता है । ऐसे प्राणी वहाँ पर किसी मन्दिर, या छायादार वृक्ष के नीचे आसन लगाकर बैठ जाते हैं और सुबह-शाम अपनी भक्त मण्डली को ‘धर्म चर्चा’ के साथ गाँजा-तम्बाकू आदि पीने की शिक्षा देते रहते हैं । साधारण दर्जे के गाँव में भी एकाध मन्दिर अवश्य रहता है और एक-दो व्यक्ति उसी के द्वारा जीवन-निर्वाह कर लेते हैं । इनके सिवाय जितने भिखारी घर-घर फिरते नजर आते हैं, उनमें से अधिकांश अपने को ब्राह्मण ही बतलाते हैं और इस नाते भिक्षा माँगना अपना अधिकार मानते हैं । इनमें से कुछ तो ऐसे भी होते हैं जिनके घर में खेती-बारी का काम होता है और उनके कई-कई व्यक्ति उसमें लगे रहते हैं, पर वे अपने “अधिकार” को छोड़ना नहीं चाहते । इसलिए सुबह दो-चार घण्टा

भ्रमण करके दो-चार सेर आटा माँग ही लेते हैं, जो आजकल के जमाने में दो-तीन रुपया का होता ही है । इस प्रकार मुफ्त की अस्सी-नब्बे रुपये मासिक की कमाई किसको बुरी लगती है ।

भीख माँगने वाले साधुओं में से कितने ही तो अपने को पहुँचा हुआ महात्मा ही समझ लेते हैं और जो भिक्षा देने से इन्कार करता है उसको भला-बुरा कहने या शाप तक देने को तैयार हो जाते हैं । बहुत से साधु अकेले घूमने के बजाय मण्डली बनाकर देश का चक्कर लगाते रहते हैं । ऐसे साधु अपने साथ एक चलता-फिरता मन्दिर भी रखते हैं, जिसमें ठाकुरजी की मूर्ति की पूजा सुबह शाम खूब घण्टा-घड़ियाल बजाकर की जाती है । धर्म-प्राण जनता सोचती है कि यदि इन को कुछ दिया न जाय तो ठाकुरजी का भोग कैसे लगेगा ? इस प्रकार उनको कुछ न कुछ मिल ही जाता है ।

इसके बाद उन मठाधारी साधुओं और महन्तों का नम्बर आता है जिनके पास किसी राजा, जमींदार या सेठ की दान दी हुई जमीन-जायदाद होती है । वे प्रतिदिन भीख माँगने के बजाय उसकी आमदनी से आराम के साथ रहते हैं और साथ ही अपने पास आने वाले आगन्तुकों पर अपना प्रभाव जमा कर कुछ भेंट पूजा भी प्राप्त करते रहते हैं । हरिद्वार, ऋषिकेश, चित्रकूट आदि स्थानों में तो इन्होंने ऐसा जाल फैला रखा है और ऐसे 'ठाठ' के साथ 'भिक्षा' माँगते हैं कि भिखारी की बजाय सेठ मालूम पड़ते हैं । ऐसे एक-एक मठाधारी ने अपने "आश्रम" के भीतर अनेक देव प्रतिमाएँ स्थापित कर रखी हैं और दर्शक लोग सब के आगे थोड़ा-थोड़ा चढ़ाते हैं तो भी बहुत-सा पैसा इकट्ठा हो जाता है । इसी प्रकार वहीं पर उन्होंने नाममात्र के लिए पाठशाला, औषधालय, अनाथालय, सदावर्त आदि खोल रखे हैं और उनके नाम पर भी वे कुछ रकम वसूल कर ही लेते हैं । इस प्रकार नये तरीके से "भिक्षा" माँग कर वे आलीशान कमरों में मखमली गद्दों पर आराम करते हैं । इस प्रकार चैन की जिन्दगी बिताने और पौष्टिक आहार करने पर उनका 'ब्रह्मचर्य' कहाँ तक निभ सकता होगा, इसका अनुमान पाठक स्वयं कर सकते हैं । ऐसे ही साधुओं के लक्षणों को देखकर अब से चार सौ वर्ष

पहले कबीर साहब ने अमने “रमैनी” नामक ग्रन्थ में कहा था—“हमने ऐसा योगी कभी नहीं देखा । ये लोग अपने धर्म का पालन तो करते नहीं केवल इधर-उधर वृथा चक्कर लगाया करते हैं । कहने को तो ये शिव भक्त और जनता के गुरु हैं, पर “हठभूमि” ही इनके योग का स्थान है और “माया-माण्ड” इनका देवता है । क्या योगी दत्तात्रेय ने कभी लोगों के घरों को नष्ट किया था ? क्या शुकदेवजी ने हथियार साधुओं की जमात इकट्ठी की थी ? कौसी लज्जा की बात है कि ये लोग जो स्वर्णालंकार धारण करते हैं, घोड़े, ऊँट आदि रखते हैं, अनेक गाँवों के मालिक बने बैठे हैं फिर भी अपने को साधु और योगी कहते हैं ।” भारत के भिक्षा जीवियों की इससे अधिक निन्दा और क्या हो सकती है ?

हमारा कलंक एवं अभिशाप—

भिक्षुकों की संख्या देश में बढ़ना उसके लिए लज्जा और कलंक की बात है, पर ढोंगी भिखारी तो किसी समाज के अभिशाप ही होते हैं, कहते हैं कि बिच्छू के बच्चे अपनी माँ का पेट भीतर ही भीतर खा जाते हैं और तब उसे फाड़कर बाहर निकलते हैं । इस किम्बदन्ती में कितना तथ्य है यह मालूम नहीं, पर यह निश्चित है कि ढोंगी भिक्षुक जिस समाज में बढ़ते हैं वे उसे पूरी तरह से खोखला, पतित, पराश्रित, दीन-हीन और दुर्भाग्यग्रस्त ही बनाकर छोड़ते हैं । रक्त पीने वाली जोंक की तुलना में इनकी भयंकरता अधिक ही है कम नहीं ।

अतएव यह नितान्त आवश्यक है कि हम अपने समाज को भिक्षा जीवियों से रहित बनावें । जो वस्तुतः असहाय, अपंग, असमर्थ हैं उनके लिए सरकार की ओर से अथवा सेवा संस्थाओं की ओर से आश्रय की व्यवस्था करें । ऐसे नितान्त असमर्थ जो कुछ भी नहीं कर सकते वर्तमान भिक्षुकों में से हजार पीछे शायद एक भी न होगा । जो हो, उनको द्वार-द्वार पर हाथ पसारने जाकर अपना स्वाभिमान खोने का अवसर नहीं जाना चाहिए । समाज का कर्तव्य है कि सम्मानपूर्वक उनको रोटी देने का प्रबन्ध करे । हमें यह करना ही चाहिए । अधिकांश इनमें ऐसे हैं जो एकाघ अंग से अपंग हैं शेष अंग कामचलाऊ हैं । ऐसे लोगों को श्रम एवं स्वावलम्बन पूर्वक आजीविका कमाने के साधन जुटाये जाने चाहिए । अन्ये जब पढ़

सकते हैं। हाथ-पैरों से हो सकने वाले काम बड़ी आसानी से कर सकते हैं। लँगड़े, बहरे, गूंगे भी कितने ही काम कर सकते हैं। उन्हें जो देना हो, वह उनके श्रम का मूल्य चुकाने के रूप में उदारतापूर्वक देना चाहिए, पर मुफ्तखोर किसी को भी नहीं बनने देना चाहिए। मुफ्तखोर भिखारियों की आत्मा इतनी पतित हो जाती है कि वे अपने हाथों अन्धा, लँगड़ा, लूला आदि बनने की निर्दयता स्वयं करते देखे गये हैं, शरीर में कोई घाव बना लेते हैं और फिर उसे अच्छा नहीं होने देते ताकि उसे देखकर लोग अधिक भिन्ना दें। चोरी, उठाईगिरी, नशेबाजी आदि अगणित दुर्गुण मुफ्त का पैसा सिखा देते हैं। इसलिए यह प्रश्न होना ही चाहिए कि भारत के अधिकांश भिखुकों में से जो काम कर सकने में किसी भी प्रकार समर्थ हों उन्हें काम पर लगाने के लिए विवक्षित किया जाय। ऐसे लोगों को दान देकर हम उनकी कोई सहायता नहीं करते वरन् उस बुरी आदत को अपनाये रहने की अप्रत्यक्ष रूप से प्रेरणा ही देते हैं। यह पुण्य वहाँ एक प्रकार से पाप ही है।

ढोंगी, भिखुक हमारे अन्ध-विश्वास, अविवेक एवं मूढ़ श्रद्धा पर जीवित हैं। हम तर्क से काम लें, विवेक से काम लें, सच्चाई को ढूँढ़ें, वास्तविकता का पता लगावें तो प्रकाश उदय होते ही जैसे अन्धकार नष्ट हो जाता है, वैसे ही इन ढोंगियों द्वारा फैलाया हुआ माया जाल भी समाप्त हो जायगा और वे स्वयं भी उल्लू और चिमगादड़ों की तरह अपने खोंतरों में जा छिपेंगे।

दयालुता मानवोचित गुण है। मनुष्य को सहृदय होना ही चाहिए। अतिथि-सत्कार भारतीय परम्पराओं के अनुकूल है। इन सद्गुणों को कार्यान्वित किया ही जाना चाहिए। दीन-दुखियों की, असहाय, असमर्थों की सेवा हमें करनी ही चाहिए। लोक-सेवियों के निर्वाह की उदारतापूर्वक व्यवस्था करनी चाहिए, पर साथ ही यह भी ध्यान रखना चाहिए कि इन तथ्यों का दुरुपयोग न होने पावे। दुरुपयोग होने पर तो अमृत भी विष बन जाता है। अविधिपूर्वक खाया हुआ अन्न जीवन संकट बन जाता है। जिस अन्न पर हमारा जीवन स्थिर रहता है, वही यदि अधिक मात्रा में या अभिष्य रूप से खाया जाय तो बीमारी का कारण

बन जायगा । इसी प्रकार दयालुता, उदारता, सहृदयता जैसे श्रेष्ठ तत्वों का यदि कुपात्रों के लिए भी प्रयोग किया जायगा तो वे हानिकारक ही सिद्ध होंगे ।

मुफ्त में पैसा पाने की जिसे आदत पड़ जाती है, वह फिर निश्चय ही कमाई नहीं करना चाहता । नये-नये बहाने रचकर वह अपनी भिक्षा की पात्रता सिद्ध करता है । जब मिलने लगता है तो उसे एक व्यवसाय बना लेता है । जिसे बार-बार दूसरों के आगे हाथ पसारना है वह अपना स्वाभिमान खो देता है । न उसे अपने इस निकृष्ट प्रयत्न पर लज्जा आती है, न संकोच होता है । स्वाभिमान रहित जीवन जीना आत्मा का घृणित पतन करना है । जिस व्यक्ति ने समर्थ होते हुए भी व्यक्तिगत गुजारे के लिए भिक्षा का व्यवसाय अपनाया, समझना चाहिए कि उसने अपनी आत्मा का बुरी तरह पतन कर लिया । ऐसे पतित व्यक्ति जिस देश समाज में बढ़ेंगे, उसका अधःपतन ही होगा । किसी सभ्य राष्ट्र के नागरिक को स्वावलम्बी और स्वाभिमानी ही होना चाहिए ।

जो लोग इन कुपात्र भिक्षुओं को दान देकर उन्हें उस पतित स्थिति में पड़े रहने के लिए प्रोत्साहित करते हैं वे वस्तुतः एक पाप ही करते हैं । स्थूल दृष्टि से वे पुण्यात्मा भले ही मालूम पड़ें अपने आपको वे दानी भले ही मानें, पर वास्तविकता उससे सर्वथा विपरीत है । दान वही सार्थक है जिसके द्वारा सत्प्रवृत्तियाँ बढ़ती हों । जिस दान से दुष्प्रवृत्तियाँ बढ़ें वह पुण्य कहाँ रहा ? यदि किसी को चोर, डाकू, ब्यसनी, आवारा, जुआरी बढ़ाने को दान दिया जाय तो उससे सर्प को दूध पिलाने की तरह उसकी वह दुष्टता बढ़ेगी, इससे जो पाप बढ़ेगा उसका उत्तरदायित्व ऐसे लोगों पर भी होगा जिनने उन्हें आर्थिक सहायता देकर अधिक समर्थ बनाया । जिस दान से किसी को आलसी, ब्यसनी एवं स्वाभिमान हीन बनने का अवसर मिलता है, वह दान उस देने वाले के लिए पाप परिणाम ही उपस्थित करेगा । अविवेकपूर्वक चलाई हुए तलवार आत्म-रक्षा की तरह आत्मघात का दुष्परिणाम उपस्थित कर सकती है, उसी प्रकार अविवेक पूर्वक दिया गया दान स्वर्ग पहुँचाने की अपेक्षा दाता को नरक में ही ले जाकर पटक देता है ।

दान में विवेक की अत्यधिक आवश्यकता है । किसे दे रहे हैं, क्यों दे रहे हैं, उस दिये हुए का किस कार्य में उपयोग होगा और उससे क्या परिणाम निकलेगा ? इन प्रश्नों का उत्तर बारीकी से ढूँढ़ना चाहिए और जहाँ उपयुक्तता दृष्टिगोचर हो वहाँ उदारतापूर्वक दान देना चाहिए । किन्तु यदि यह प्रतीत हो कि समर्थ व्यक्ति को आलसी एवं परावलंबी बनाने के लिए दिया जा रहा है, तो उसे देने से पहले सौ-बार सोचना चाहिए और विवेक कहे तो साहसपूर्वक याचक को स्पष्ट इनकार भी कर देना चाहिए । इनकारी में उसका वास्तविक हित है । जब भिक्षा व्यवसाय उसे लाभदायक प्रतीत न होगा तो फिर वह गुजारे का दूसरा उपाय सोचने के लिए विवश होगा । यदि ऐसा हो सका तो वह स्वाभिमानी नागरिक की जिन्दगी जी सकेगा । ऐसी परिस्थिति उत्पन्न करने वाला 'सूम' कहलाकर भी दूरदर्शी ही कहलावेगा । उस दानी से हर हालत में अच्छा रहेगा जिसने कुपात्रता को बढ़ावा देने के लिए अपने पैसे का दुरुपयोग किया ।

राष्ट्र को भिक्षुक-विहीन बनाना नितान्त आवश्यक है । ५६ लाख पेशेवर लगभग इतने ही आंशिक रूप से दान लेने वाले अर्थात् लगभग एक करोड़ लोग किसी न किसी बहाने भिक्षा की आशा करने लगे और अपना स्वाभिमान खोते रहे तो किसी उदीयमान राष्ट्र के लिए लज्जा से डूब मरने की बात है । ८५ करोड़ में दो करोड़ से भी ज्यादा लोग भिखारी मनोवृत्ति के हों तो उस समाज को संसार के सामने गर्व से मस्तक उठाने का अवसर कैसे मिलेगा ? इतने निठल्ले लोग अपनी आजीविका चलाने के लिए जो अनैतिक खुराफातें सोचेंगे और करेंगे तो उसका प्रभाव सारे समाज को दिग्भ्रान्त करने के लिए कितना भयानक होगा उसकी कल्पना करने मात्र से आँखों के आगे अन्धेरा छा जाता है ।

इस दुष्प्रवृत्ति से राष्ट्र का पिण्ड छुड़ाया ही जाना चाहिए । मनुष्यों को पतित स्तर का बने रहने की अपेक्षा उसे स्वावलम्बी एवं स्वाभिमानी बनने में ही विवेकपूर्वक योग देना ही चाहिए । कुपात्रों को दान देने की सस्ती भावुकता पर नियन्त्रण करना ही चाहिए । हमें यह सोचना ही चाहिए कि पुण्य के नाम पर पाप बढ़ाने से क्या लाभ ?

देश में मुश्किल से एक लाख ऐसे असमर्थ होंगे जो भिक्षा के बिना जीवित नहीं रह सकते । इसके लिए किन्हीं प्रामाणिक संस्थाओं द्वारा निर्वाह की व्यवस्था होनी चाहिए । उनसे यथा सम्भव श्रम कराया जाय । जिसके एक दो अंग भी ठीक हैं, कुछ न कुछ उपार्जन कर सकता है, उनके लिए वे सामान जुटाये जायें ताकि अपनी सामर्थ्य के अनुसार कुछ न कुछ करते रहें और किसी न किसी रूप से अपने पुरुषार्थ को उत्पादन के ढंग से जागृत रख सकें । ऐसी सहायता से उनका निर्वाह भी होगा और आत्मिक पतन भी न होगा । शेष भिक्षा व्यवसायी देश के सर्वतोमुखी अद्यतन का गढ़ बने हुए हैं, उन्हें इस व्यवसाय से विरत होने के लिए विवश किया ही जाना चाहिए । विवेकपूर्ण दयालुता का यही मार्ग है ।

समाज शरीर का रिसता व्रण-भिक्षा वृत्ति

भारतीय समाज के दैन्य व दारिद्र्य का परिचय देने वाले भिखारियों की उपस्थिति के बिना किसी भी नगर के रेल्वे स्टेशन, बस स्टैंड, पब्लिक पार्क तथा अन्य सार्वजनिक स्थलों का चित्र अधूरा ही रह जायगा । तीर्थ स्थानों पर तो इनका जमाव बहुत बड़ी संख्या में दृष्टिगोचर हुए बिना नहीं रहता । विवशता, निराशा, दैन्य, दारिद्र्य व गन्दगी के प्रतिरूप ये दुबले, पतले हट्टे-कट्टे स्वस्थ, रोगी, पूर्णांग, विकलांग सभी प्रकार के मिल जायेंगे ।

हमारे देश में जितने अधिक भिखारी हैं उतने अन्य किसी देश में नहीं हैं । बाहर से आने वाले पर्यटक जब इन्हें इतनी बड़ी संख्या में देखते हैं तो उनके मन मस्तिष्क में हमारे देश का जो चित्र बनता है, वह निश्चय ही हमारे लिए लज्जा का विषय होना चाहिए । वे भारत को भूखे-नंगों, कर्महीनों व निर्लज्जों का देश समझें तो उनका दोष क्या ? वे जैसा देखते हैं वैसी ही तो धारणाएँ बनाते हैं । हर सौ आदमी के पीछे एक आदमी का भिखारी होना ही उनकी इस धारणा का आधार है ।

यह विचारणीय प्रश्न है कि भारतवर्ष की गरीब जनता ८० लाख भिखमंगों का भार वहन करती है । प्रतिदिन लोगों पर एक करोड़ दस लाख रुपये का व्यय समाज को करना पड़ता है । इस भार को वहन करते रहने का कोई औचित्य समझ में नहीं आता । समाज से इनको कुछ

लाभ मिलता हो तो भार वहन का औचित्य समझ में आ सकता है, किन्तु ये लोग अपराध, हीनता, चारित्रिक पतन, दारिद्र्य व बदनामी ही फैलाते हैं। अतः भिक्षावृत्ति का मूलोच्छेदन अनिवार्य हो जाता है।

इन ८० लाख भिखारियों में से दो लाख आधे पागल, बीस लाख अन्धे, दस लाख गूगे-बहरे, पाँच लाख कोढ़ी हैं। इन्हें विकलांग व रोगी माना जाय तो इनकी संख्या कुल मिलाकर सैंतीस लाख होती है। शेष तो ऐसे व्यक्ति हैं, जो कमाकर खाने योग्य हैं, इन्हें तो बैठे-ठाले खाने की कुटेब पड़ गई है, जिसे मिटाना आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है।

विकलांगों को बैठे-बिठाये खिलाने का भी कोई औचित्य समझ में नहीं आता। हाँ उन्हें उनकी क्षमता के अनुरूप काम दिया जाय। उन्हें किसी कार्य विशेष में दक्ष बनाने के लिए सरकारी व सामाजिक संस्थान खोले जाँय। उनके लिए नौकरी की विशेष सुविधाएँ संरक्षण दिये जायें, उन्हें आत्म निर्भर बनाने, सम्मानित जीवन जीने की स्थिति में लाने के लिए व्यय करना तो जरूरी है किन्तु उन्हें अकर्मण्य की तरह बैठे-बिठाये खिलाने से तो उनका स्वाभिमान भी नष्ट होता है तथा मुफ्त की रोटियाँ खाकर उनका दिमाग खराब होता है यही नहीं 'खाली दिमाग शैतान का घर' वाली उक्ति उन पर अक्षरशः लागू होकर उन्हें पतित भी बना देती है। अतः ऐसे लोगों को स्वावलम्बी बनाने का प्रयास करना चाहिए तथा स्वस्थ व पूर्णांग भिखारियों को कमाकर खाने के लिए विवश करना चाहिए।

भिक्षावृत्ति को अधिकांश भिखारी अपनी विवशता नहीं वरन् इसे अपना व्यवसाय मानते हैं। वे इसमें कोई लज्जा व शर्म नहीं मानते। अपनी दीनता का प्रदर्शन विकृत अंगों व घावों का प्रदर्शन, करुण आवाज में पुकारना तथा झूठ-मूठ अन्धे-बहरे बन जाने की मक्कारियों को अपना व्यवसाय कौशल मानते हैं। इस प्रवृत्ति को समय रहते ही कुचल देना आवश्यक है।

इनके भी पत्नियाँ होती हैं-बच्चे होते हैं। वे सभी इस घृणित कार्य को अपना व्यवसाय मानते हैं। इससे नये-नये तरीके व ढंग खोजते रहते हैं। केरल से तो एक समाचार आया था कि तेलीचेरी, कन्नानोर व कोजीकोड़े के भिखारियों ने अपनी यूनियन भी बनाई है। ऐसे लोगों को

पैसा व रोटी देना पुण्य कदापि नहीं हो सकता । यह तो पाप ही कहा जायगा । क्योंकि इनमें से कई लोग अपराध भी करते हैं । बच्चों को बहला-फुसलाकर उठा ले जाते हैं तथा नृशंसता पूर्वक उनके अंग-भंग करके उन्हें भीख माँगने के लिए विवश करते हैं ।

मनुष्य में दूसरों के दुख कष्ट देखकर स्वाभाविक रूप से दया व सहानुभूति उमड़ पड़ती है । यह मानवीय संवेदना ही उनके इस घृणित व्यवसाय का मूल आधार है । साथ ही साथ धर्म, ईश्वर व दान के नाम पर भी ये लोग पैसा ऐंठने में सफल हो जाते हैं ।

कुछ लोग यह समझते हैं कि अपने घर कोई कामना लेकर आने वाला व्यक्ति निराश लौटे तो यह अच्छी बात नहीं । अतः वे पात्र-कुपात्र की चिन्ता न करते हुए भी दे देते हैं । महिलायें स्वभाव से ही ममतालू व सहृदया होती हैं । अतः वे अक्सर अपने द्वार पर आये हुए भिखारी को निराश नहीं लौटाना चाहती । किन्तु ये सब बातें व्यर्थ की भावुकता ही हैं ।

यह मान्यता उन दिनों की उपज है, जब हमारे देश में स्वेच्छा से सेवा का कठिन व्रत अपनाने वाले व्यक्तियों को 'साधु' कहा जाता था । यह साधु प्रायः वानप्रस्थी हुआ करते थे । वानप्रस्थ आश्रम का पालन प्रत्येक व्यक्ति करता था । परिवार का भार वयस्क पुत्रों पर छोड़कर वे समाज कल्याण, लोक सेवा व लोक शिक्षण का कार्य अपना लेते थे । उनमें से अधिकांश का भरण-पोषण उनके पुत्रादि करते थे, किन्तु जिनके पुत्र नहीं होते थे या वे अपने समाज सेवी पिता के भरण-पोषण करने की सामर्थ्य नहीं रखते थे तो ऐसे समाज सेवियों का भार समाज उठाता था । उन्हें किसी के पास कुछ माँगने नहीं जाना पड़ता था । यह गृहस्थों का दायित्व होता था कि वे इनकी स्वल्प आवश्यकताओं की पूर्ति उनके पास जाकर स्वयं करें अथवा उनके घर पर आते ही श्रद्धा, सम्मानपूर्वक उनके निर्वाह की व्यवस्था बना दें ।

यह सामाजिक व्यवस्था बड़ी सहज तथा उपयोगी थी । यह अनुभव व ज्ञान की पूँजी से युक्त वानप्रस्थ वर्ग शिक्षा, न्याय, धर्म, चिकित्सा, साहित्य सृजन, लोक-शिक्षण समाज कल्याण आदि के

दायित्वों का निर्वाह स्वल्प आवश्यकताओं की समाज द्वारा पूर्ति कर दिये जाने पर पूरी निष्ठा-लगन व भावना से सहज रूप से करता रहता था । अतः श्रद्धा व सम्मान का पात्र भी था । ऐसे लोगों को अपने द्वार से खाली लौटाना निश्चय ही अनुचित था ।

समय के साथ आश्रम परम्परा समाप्त होती गई । इन लोक सेवियों के स्थान पर अवसरवादियों तथा अकर्मण्यों ने उस सामाजिक व्यवस्था से लाभ उठाना आरम्भ कर दिया । उन निस्पृह लोक सेवियों और आज के इन कर्महीनों में कुछ भी साम्य नहीं है अतः हमारे अभ्यास में आई हुई इस बात का कि घर से कोई निराश न लौटे का महत्व अब विवेक की कसौटी पर कसने के बाद ही स्वीकारना चाहिए । ऐसा सत्पात्र आ भी जाय तो उसे निराश करना भी नहीं चाहिए, पर इन निठल्लों को तो हतोत्साहित ही करना चाहिए ।

जो लोग श्रम देवता की उपासना करना नहीं जानते, कर्म करना जिन्हें प्रिय नहीं, ऐसे लोगों को दिया गया धन व भोजन, वस्त्र न तो दान है और न पुण्य । दान व पुण्य तो समाज के लिए लाभकारी होते हैं । जबकि उन्हें दिया गया धन समाज की कलंक कालिमा को बढ़ाने का ही काम करता है ।

दान के साथ पात्रत्व की शर्त अभिन्न रूप से जुड़ी हुई है । आज दान के नाम पर कुपात्रों को दी जाने वाली धनराशि हमारा अनिष्ट ही कर रही है । ऐसे लोग कुबेर बन बैठे हैं, जो कहीं कमाने नहीं जाते । जिन्हें समाज के हित से कुछ लेना-देना नहीं । वे परोपजीवी अमर बेल की तरह समाज रूपी विटप के प्राण हरते रहते हैं । ये प्रकट नहीं प्रच्छन्न भिखारी इन भूखे-नंगों से कम हानिकारक नहीं हैं ।

दान तभी तक पुण्य है जब तक वह सत्पात्र को दिया जाता है । कुपात्र को दिया गया दान कुकर्मों में ही लगता है । अतः वह नर्क का ही पथ-प्रशस्त करता है, स्वर्ग का नहीं । लोक हित के लिए सत्पात्रों को लोकसेवी संस्थानों को दान तो दिया ही जाना चाहिए, पर उनके चरित्र व कर्तृत्व को कसौटी पर कस कर खरा सोना सिद्ध होने पर ही दान दिया जाना चाहिए ।

भगवान के नाम पर हट्टे-कट्टे स्वस्थ लोगों को भी भीख माँगते देखा जाता है । रोगी, विकलांग व वृद्ध सहायता के पात्र हो सकते हैं, किन्तु स्वस्थ लोगों का इस प्रकार हाथ फैलाना सर्वथा अनुचित है । जिस व्यक्ति में जरा-सा भी स्वाभिमान होता है वह तो माँगने से मर जाना बेहतर समझता है । अतः ऐसे परोपजीवियों को कमाकर खाने के लिए बाध्य करने के लिए जन-सामान्य के लिए सीधा सरल रास्ता यही है कि वे उन्हें भीख न दें ।

मानवीय स्वेदनशीलता के प्राकृत सद्गुण के कारण उत्पन्न हुई दया व सहायता करने की कामना का सच्चा परिपोषण, प्रकटीकरण भीख माँगने वाले को पाँच-दस पैसा या रोटी-कपड़ा दे देना नहीं है बल्कि उन्हें स्वावलम्बी व स्वाभिमानी बनाने के लिए ऐसे संस्थानों की व्यवस्था करना है जो हमारे अभीष्ट की पूर्ति कर सकें ।

रोगी व विकलांग होने के कारण मनुष्य की क्षमताओं में इतनी कमी नहीं आ जाती है कि वह अपना पेट भी न भर सके । विरजानन्द सरस्वती, हेलन केलर, डोरीना डी ग्वाइया आदि कई प्रज्ञा चक्षुओं के उदाहरण हमारे सामने हैं, जिन्होंने स्वाभिमान पूर्वक जीवनयापन ही नहीं किया बल्कि समाज का बहुत बड़ा उपकार भी किया । यदि भिक्षावृत्ति को घृणित बताया जाय, भिखारियों के स्वाभिमान व संकल्पों को जगाया जाय तो यह कोई कठिन बात नहीं है कि वे भी अन्य नागरिकों की तरह ही स्वाभिमान पूर्वक जीवन यापन कर सकें । इसके लिए व्यक्तिगत, सामाजिक व राजकीय स्तर पर बहुत कुछ किया जाना शेष है ।



मुद्रक: युग निर्माण योजना प्रेस, मथुरा